ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBBIL04292
RNI REG. NO. UPBBIL/2014/66218 PP. NO.- 14-16
ISSN NO.-2347-2944
Vol.-8, No.-II, Issues-IX YEAR- Dec-2017

समकालीन विश्व सिनेमा में स्त्री–जीवन

विजयलक्ष्मी पाण्डेय
शोध अध्येत्री, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

गोवा की राजधानी पणजी में प्रतिवर्ष आयोजित 'भारतीय अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव' (इफी) के 48वें संस्करण से गुजरकर मौजूदा विश्व–सिनेमा को समझने की एक राह खुलती नजर आती है। 20 से 28 नवंबर 2017 तक चले इस फिल्म समारोह में 82 देशों की 195 फिल्में शामिल थीं। दुनिया भर में सिनेमा की वह भाषा कैसे बदल रही है, जो संवादों से अलग निर्देशक के कैमरे से रची जाती है, यह जानने–समझने के लिए यह फिल्म समारोह एक दुर्लभ अवसर की तरह है।

पोलिश फिल्म 'अमोक' (2017) के जरिए अगर हम इस सिने–भाषा से परिचित होने की कोशिश करें तो हमारा सामना उस यथार्थ से होता है जो वि.त और हिंसक कल्पनाओं से क्रूर हो चला है। यह फिल्म एक हत्या की ततीश से शुरू होती है। इस हत्या के स्रोत और सूत्र 'अमोक' नाम की एक किताब में मिलते हैं। रचना यथार्थ की जमीन पर होते हुए कल्पना का ही विस्तार है। इस निष्कर्ष की रौशनी में यह कहना गलत न होगा कि सिनेमाघर के अंधेरे में परदे पर दिखने वाला जीवन हमारे वास्तविक जीवन का ही प्रकटीकरण, प्रतिबिंब और प्रतिफलन है। इस प्रतिसंसार के सामने होते हुए अनायास ही इससे स्त्री का संसार और उसका जीवन भी जुड़ने लगता है। यह कौंध इस प्रतिसंसार को एक स्त्री की निगाह से देखने के लिए विवश करती है।

स्त्री–चिंतन के क्षेत्र में परंपरावादी शास्त्रीय चेतना की हिमायती क्रिस्टीना हॉफ सॉमर्स के अनुसार, ''कुछ लैंगिक स्त्रीवादी यह दावा करते हैं कि चूंकि स्त्रियां दमित और उत्पीड़ित रही हैं, इसलिए वे बेहतर रूप से 'ज्ञानसंपन्न' हैं। अधिक गहराई से महसूस करते हुए, वे अधिक साफ देख पाती हैं और वास्तविकता को ज्यादा बेहतर ढंग से समझ पाती हैं। उनके पास पुरुषों की अपेक्षा एक 'ज्ञानमीमांसीय' लाभ है।''1

इस 'ज्ञानमीमांसीय' लाभ को ध्यान में रखते हुए समकालीन विश्व–सिनेमा में स्त्री–जीवन को समझने के क्रम में इफी में देखीं पांच फिल्में उल्लेखनीय और विश्लेषण–योग्य लगती हैं। इनमें पहली है :

बियान्ड द क्लाउड्स – ईरान के विश्व प्रसिद्ध फिल्मकार माजिद मजीदी की 'बियॉन्ड द क्लाउड्स' (2017) इफी के 48वें संस्करण की ओपनिंग फिल्म थी। मजीदी ने यह फिल्म भारत में भारत के लिए बनाई है। इसके सारे पात्र भारतीय हैं। फिल्म की भाषा हिंदी है और स्थानीयता मुंबई। मुंबई में भी एक ऐसी अनछुई मुंबई जिसे भारतीय सिनेमा के परदे पर छूने की जरूरत कम ही महसूस की गई है। 'बियॉन्ड द क्लाउड्स' में मुंबई का वह अपघाती जीवन है जो झुग्गियों, धोबीघाट, सरकारी अस्पताल और जेल में गुजर रहा है। हिंसा और अपराध साये की तरह उसके साथ है। इस फिल्म की कहानी तारा नाम की एक स्त्री के इर्द–गिर्द बुनी गई है। तारा धोबीघाट पर काम करती है। वह अपने शराबी पति को छोड़ चुकी है। तारा का आमिर नाम का एक भाई भी है जो डांसर है, लेकिन ड्रग्स का धंधा करता है। यह फिल्म अपने मूल प्रभाव में हाशिए के समाज की आकांक्षाओं के अधूरेपन और उसके लिए सामाजिक न्याय की अनुपलब्धता का बयान है।

तारा धोबीघाट पर काम करती है, जहां एक अधेड़ उम्र का आदमी उसके साथ बलात्कार करने की कोशिश करता है। बचाव में तारा उस पर जानलेवा हमला करती है। इसके बाद आदमी मृतप्राय स्थिति में अस्पताल पहुंच जाता है और तारा जेल। जेल में तारा की मुलाकात अन्याय के प्रतिकार में जुर्म तक चली गई एक स्त्री से होती है। यह फिल्म धीरे–धीरे कई स्त्रियों के जीवन से आगे बढ़ने लगती है। इसमें हर उम्र की स्त्रियां हैं। अस्पताल में पड़े आदमी का बचना, तारा के जेल से आजाद होने के लिए जरूरी है। इस आदमी की मां और दो बेटियां सुदूर दक्षिण भारतीय गांव से मुंबई के उस अस्पताल तक आ जाती हैं, जहां आमिर अपनी बहन के बलात्कार की कोशिश करने वाले को तारा की मुक्ति के लिए बचाने की कोशिश में लगा हुआ है। यह मानवीय विडंबना यहां तक पहुंच जाती है कि आमिर इस आदमी की मां और बेटियों को भी अपने घर में शरण देने को बाध्य हो जाता है।

डे ब्रेक– गेंटियन कोसी निर्देशित 'डेब्रेक' (2017) अल्बानिया–ग्रीस की फिल्म है। फिल्म की केंद्रीय पात्र लेता कई महीनों से उस लैट का किराया दे पाने में असमर्थ है, जहां वह अपने एक साल के बेटे के साथ रहती है। उसके स्तनों से दूध ा भी जाता रहा है। स्वीडिश फिल्मकार इंगमार बर्गमैन ने सिनेमा को अभिव्यक्ति से जुड़ा एहसास मानते हुए कहा है, ''यह

अनुरूपी लेखक

मनुष्यों को जोड़ने का साधन है। यह माध्यम मेरे लिए दूसरे मनुष्यों से संवाद का भी साधन है।''2 'डे ब्रेक' पारस्परिकता के शिल्प में जरूरतमंदों के बीच एक जरूरी संवाद रचती है। लेता को बेघर–बेसहारा होने से बचाने के लिए फिल्म में सोफी नाम की एक और स्त्री का प्रवेश होता है। यह बूढ़ी स्त्री बहुत अधिक बीमार है, इसलिए उसकी बेटी जो कि अपनी शादी बचाने के लिए फ्रांस जा रही है, लेता को अपनी मां की तीमारदारी का रोजगार सौंपती है। लेकिन एक दिन अचानक खबर आती है कि सोफी की बेटी की एक कार–दुर्घटना में मृत्यु हो गई। अब लेता के पास जीवनयापन के लिए फिलहाल एक ही विकल्प बचता है– सोफी की पेंशन। लेकिन अपनी बेटी की मौत की खबर सुनकर ही सोफी चल बसती है। यह किसी को पता न चले, इसलिए लेता उसके शव को एक दीवार में चुन देती है। प्रतिमाह घर पेंशन देने आने वाले पोस्टमैन को भी वह गुमराह करने की कोशिश करती है। वह उसे गाफिल रखने के लिए उसके साथ हमबिस्तर भी होती है। लेकिन अंततः वह पोस्टमैन एक दिन मृत सोफी के घर पर पुलिस के साथ हाजिर होता है। अब परदे पर लेता का जर्द चेहरा है और नेपथ्य में उसके एक वर्षीय बच्चे का रुदन।

फ्रीडम– जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी किताब 'द सब्जेक्शन ऑफ विमेन' में विवाह को इकलौती ऐसी सामाजिक व्यवस्था माना है, ''जिसे कई मामलों में बंधक–व्यवस्था कहा जा सकता है। हर घर की गृहिणी के अलावा अब कोई गुलाम नहीं बचा है।''3 जर्मन फिल्म 'फ्रीडम' (2017) में विवाह की बंधक–व्यवस्था में मुक्ति खोजती एक ऐसी स्त्री की कहानी नजर आती है जो अपने पति और दो बेटियों को बिना कुछ बताए घर छोड़ आई है। वैसे इसे कहानी कहना गलत होगा क्योंकि इस स्त्री के उतने जीवन में जो सिनेमा के परदे पर भागता हुआ दीखता है, उसमें आदि–अंत–मध्य जैसा कुछ है नहीं। इसे दुनिया से भागने की कोशिश में खुद से भागते रहने का पागलपन कह सकते हैं। यह अस्मिता की खोज में पलायन का वरण करना है। इस तरह इस फिल्म के जरिए तत्कालीन स्त्री–विमर्श के उस पहलू को समझने के सूत्र भी हाथ लगते हैं, जो संसार भर में कई स्त्रियों को एक ऐसी मनःस्थिति में लाकर खड़ा कर रहा है, जहां से वे कहां जाएं कि राह उन्हें सूझ नहीं रही है। वह इधर या उधर के चक्कर में किधर भी नहीं रह पा रही हैं। 'फ्रीडम' में अपना घर–परिवार त्याग कर एक नए जीवन की तलाश में निकली स्त्री, जब अपने एक सहकर्मी के घर पर रात्रिभोज में शामिल होती है, तब अपने सहकर्मी को अपने बच्चों से प्यार करते देख उसे अपने बच्चे याद आते हैं। उसका मातृत्व इस कदर अंगड़ाई लेता है कि वह व्यथित होकर रोने लगती है। उसका पति मीडिया में उसके गुमशुदा हो जाने की सूचना–विज्ञापन दे देता है और वह इस सूचना–विज्ञापन से बहुत बाहर एक अंतहीन भटकाव में बिखरती चली जाती है। अंत में अपने सारे सामान को अपने कंधों पर उठाए यह स्त्री समुद्र के अथाह जल में डूबती हुई नजर आती है। यह अंत अपने ही बोझ से भारी होते चले गए एक भटके हुए खानाबदोश जीवन का अंत है।

डिसअपीयरेंस – अली असगरी द्वारा निर्देशित ईरानियन फिल्म 'डिसअपीयरेंस' (2017) ईरान में अपने कथ्य की वजह से प्रतिबंधित है। कई फिल्म समारोह में इसकी सराहना की वजह यह प्रतिबंध ही नजर आता है, क्योंकि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में यकीन रखने वाले किसी भी देश के लिहाज से इस फिल्म के कथ्य में कोई नवीनता या अनूठी बात नहीं है। लेकिन इस कथ्य को ईरान जैसे देश में, सिनेमा जैसे लोकप्रिय माध्यम में कहने की कोशिश करना इसे काल के लिहाज से न सही, देश के लिहाज से एक साहसिक प्रयत्न कह सकते हैं। यहां गौरतलब है कि ईरान में सिनेमा और कलाओं की दुनिया को एक कट्टर सेंसरशिप का सामना करना होता है। इस सेंसरशिप से गुजरकर ही, कोई भी रचना ईरान में सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत हो सकती है।

'डिसअपीयरेंस' के कथ्य की बात करें तो यह एक किशोर वय की लड़की के एक हॉस्पिटल के रिसेप्शन पर आने और हेड नर्स से यह कहने से शुरू होता है कि वह अकेले में कुछ बात करना चाहती है। उसके बहुत जोर देने पर, हेड नर्स इसके लिए तैयार होती है। लड़की नर्स को बताती है कि उसका रेप हुआ है और उसे ब्लीडिंग हो रही है। डॉक्टर चेक–अप के दौरान उससे सवाल–जवाब करती रहती है। वह बार–बार उससे सच्चाई बताने के लिए कहती है। इससे घबराकर लड़की हॉस्पिटल से भाग निकलती है और अपने उस प्रेमी से जो हॉस्पिटल में उसका भाई बनकर आता है, किसी दूसरे हॉस्पिटल में चलने के लिए कहती है।

इसके बाद यह किशोरवय का प्रेमी–युगल अपनी समस्या के समाधान के लिए एक से दूसरे हॉस्पिटल में भटकता रहता है, लेकिन उसे कोई मदद या ईलाज की सुविधा नहीं मिलती। हर जगह उनसे गार्जियन से बात कराने और डॉक्यूमेंट्स की मांग की जाती है। उनकी असल समस्या कुछ ऐसी है कि वह भय और बदनामी की वजह से उसे अपने परिवार से साझा करने में असमर्थ हैं। आखिरकार अपने दोस्तों की मदद से एक प्राइवेट हॉस्पिटल में लड़की की समस्या का समाधान एक ऑपरेशन के जरिए हो जाता है; लेकिन इस काम में उसकी और उसके प्रेमी दोनों की पूरी कॉलेज–फीस चली जाती है।

इस फिल्म के एक दृश्य में लड़की अपनी एक सहेली से कहती है कि हॉस्पिटल में एक बार उसे ऐसा लगा कि उसका प्रेमी उसे अकेला छोड़कर कहीं गायब हो गया। प्रख्यात स्त्रीवादी लेखिका जर्मेन ग्रीयर अपनी पुस्तक 'द फीमेल यूनक' में कहती हैं, ''स्त्रियों के विद्रोह के जो चित्र–विचित्र कष्टकारी रूप सामने आते हैं, उनकी सबसे बड़ी कीमत तो स्त्रियां खुद से वसूल करती हैं। स्त्री पाती है कि अपने विनाशक छिद्रान्वेषण और प्रेम की उसकी तमाम पहलों का विरोध करके वह अपने साथी को खुद से दूर खदेड़ रही है।''4 यह कथ्य 'डिसअपीयरेंस' के अंत में तब बहुत अर्थपूर्ण लगने लगता है, जब फिल्म के दोनों प्रमुख पात्र कार में लौट रहे हैं और कार में पेट्रोल खत्म हो जाता है। लड़का पेट्रोल का इंतजाम करने के लिए कार से निकलता है और जब वह लौटता है, तब पाता है कि लड़की उसे छोड़कर कार से कहीं गायब हो चुकी है।

द लास्ट पेंटिंग – ''हम जो घटनाओं के महज दर्शक हैं और त्रासदियों से एक सुरक्षित दूरी और सुरक्षित समय में स्थित हैं। स्क्रीन पर किसी भी त्रासदी को देखकर दर्शक के मन में सबसे पहले यही भाव पैदा होता है कि यह मेरे साथ नहीं, किसी और के साथ घटा है...।''5 – सूसन सौटेग

'द लास्ट पेंटिंग' (2017) ताइवान की फिल्म है। आधुनिक विश्व सिनेमा में जिन छोटे देशों में बड़ा सिनेमा बन रहा है, ताइवान उन देशों में से ही एक है। 'द लास्ट पेंटिंग' में एक छात्रा और राजनीतिक कार्यकर्ता एक चित्रकार के साथ फलैट साझा करने के लिए आती है। चित्रकार ताइवान के उस युवा–वर्ग का प्रतिनिधित्व करता नजर आता है, जो अपनी बौद्धिक और रचनात्मक बेचौनियों की वजह से अपने देश के वर्तमान से निराश है।

फिल्म में ताइवान के नए राष्ट्रपति के चुनाव होने वाले हैं, सब तरफ उसकी हलचल है। एक दृश्य में इस चुनाव में प्रस्तुत पुरुष प्रतिनिधि के चेहरे वाला पोस्टर गिरता और स्त्री प्रतिनिधि के चेहरे वाला पोस्टर उभरता हुआ दिखाई देता है। फिल्म जैसे–जैसे आगे बढ़ती है, स्त्री के प्रति बढ़ते अत्याचारों का आख्यान बनती जाती है। धीरे–धीरे चित्रकार की अंतरंग मित्र बन चुकी छात्रा की अचानक हत्या हो जाती है। यह हत्या इतनी बेरहमी से की गई है कि शव की दोनों आंखें गायब हैं। फिल्म अगले शॉट में ये दोनों आंखें चित्रकार के हाथों में और लैशबैक में उसके द्वारा इनके निकाले जाने की वीभत्स प्रक्रिया नजर आती है।

'द लास्ट पेंटिंग' में स्त्री होने की आकांक्षा, उसके तनाव और निष्कर्ष कहीं कुछ प्रतीकात्मक तो कहीं बहुत मूर्त होकर प्रस्तुत हुए हैं। स्त्री को यहां पुरुष की हिंसात्मक इच्छाओं और उसके अवसरवाद के आगे बर्बाद होते देखा जा सकता है। वह मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक हर मोर्चे पर जूझती हुई, लेकिन दमित दिखती है। इस प्रकार भारत से लेकर जर्मनी तक, ताइवान से लेकर ग्रीस तक और ईरान से लेकर पोलैंड तक हर कहीं स्त्री–जीवन और उसके विमर्श को सिनेमा के जरिए समस्याग्रस्त करने देखने की कोशिश आज दुनिया भर में हो रही है। यहां विश्लेषित पांच फिल्में इस कोशिश की सिर्फ एक झलक भर हैं। संसार भर में स्त्री की स्थिति आज भी एक किस्म के रूढ़िवाद और आधुनिकतावाद के बीच फंसी हुई है। जहां वह एक पल स्वतंत्र दिखती है तो दूसरे ही पल बाजार और पुरुष की बंधक नजर आती है। ये पांच फिल्में अपने मूल निष्कर्षों में अंततः नाउम्मीदी से भरी हुई लग सकती हैं, लेकिन सिनेमा ही नहीं कोई भी कला–माध्यम उम्मीद देने के लिए सच से मुंह फेरना पसंद नहीं करेगा। विश्व का सार्थक सिनेमा, आज इसलिए ही सार्थक है क्योंकि वह अपने दौर की सच्चाई के साथ है और उसे अभिव्यक्त कर रहा है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गूंगे इतिहासों की सरहदों पर : पश्चिम का समकालीन स्त्री चिंतन, चयन एवं अनुवाद : सुबोध शुक्ल, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्रथम संस्करण : 2016, पृष्ठ : 271
2. प्रदीप तिवारी : सिनेमा के शिखर, संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण : 2006, पृष्ठ : 95
3. जॉन स्टुअर्ट मिल : स्त्री और पराधीनता, अनुवाद एवं प्रस्तुति : युगांक धीर, संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण : 2008, पृष्ठ : 87
4. जर्मेन ग्रीयर : विद्रोही स्त्री, अनुवाद : मधु बी. जोशी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2001, पृष्ठ : 254
5. विजय कुमार : अंधेरे समय में विचार, संवाद प्रकाशन, मेरठ, संस्करण : 2006, पृष्ठ : 207–208

*****